इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

'अज्ञेय'

जन्म १९११; प्रकाशित रचनाएँ :

कविता—भग्नदूत १९३३, चिन्ता १९४२, इत्यलम् १९४६, हरी घास पर क्षण भर १९४९, बावरा अहेरी १९५४, प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स (अंग्रेज़ी) १९४६। कहानियाँ—विपथगा १९३७, परम्परा १९४४, कोठरी की बात १९४५, शरणार्थी १९४८, जय-दोल १९५१। उपन्यास—शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, नदी के द्वीप १९५२। भ्रमण-वृत्तान्त—अरे यायावर रहेगा याद १९५३।

सम्पादित ग्रन्थ : आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध-संग्रह) १९४२, तार-सप्तक (कविता-संग्रह) १९४३, दूसरा सप्तक (कविता-संग्रह) १९५१, पुष्करिणी (कविता-संग्रह) १९५३, नये एकांकी १९५२। संयुक्त रूप से—हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ १९५२, नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ १९४९। अंग्रेजी में—'इंडिया लायब्रेरी' के अन्तर्गत श्रीकान्त (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का अनुवाद) १९४४, द रेज़िग्नेशन (जैनेन्द्रकुमार के त्यागपत्र का अनुवाद) १९४६।

इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

'अज्ञेय'

सरस्वती प्रेस

इलाहाबाद • बनारस

अनुक्रम

भाई विवेक को

उसे जो कहीं
एक-एक सीपी का मुख खोला करता है
और मर्म में रख देता है
कनी रेत की—

इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

मंगलाचरण

भावों का अनन्त क्षीरोदधि,
शब्द-शेष फैले सहस्त्र-फण;
एक अर्थ से तुम हो अच्युत :
मुझ को भी दो दो करुणा-कण!

एक दिन जब

एक दिन जब
सिवा अपनी व्यथा के कुछ
याद करने को नहीं होगा—
क्योंकि कृतियाँ दूसरों के याद करने के लिए हैं :

एक दिन जब
दे न पाया जो, उसी की नोक
बेबस सालती रह जायगी—
क्योंकि दे पाया अगर कुछ, याद उस को आज
मैं करता नहीं हूँ, और
जीवन ! शक्ति दो
उस दिन न चाहूँ याद करना :

एक दिन जब
प्यार से
संघर्ष से
आक्रोश से, करुणा-घृणा से, रोष से,
विद्वेष से, उल्लास से,
निविड सब संवेदनाओं की सघन अनुभूति से
बँधा, वेष्ठित,
विद्ध जीवन की अनी से—स्वयं अपने प्यार से—

एक दिन जब
हाय ! पहली बार !
जानूंगा कि जीवन

जो कभी हारा नहीं था, हारता ही किसी से जो नहीं
अपने से चला अब हार :

एक दिन
उस दिन
जिसे अपनी पराजय भी
दे सकूँगा समुद, निस्संकोच

उसी को
आज
            अपना गीत देता हूँ।

जितना तुम्हारा सच है

कहा सागर ने : चुप रहो !
मैं अपनी अबाधता जैसे
सहता हूँ, अपनी मर्यादा
तुम सहो।
जिसे बाँध तुम नहीं सकते
उस में अखिन्न मन
बहो।
मौन भी अभिव्यंजना है :
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।

कहा नदी ने भी : नहीं, मत बोलो,
तुम्हारी आँखों की ज्योति से
अधिक है चौंध जिस रूप की
उस का अवगुण्ठन
मत खोलो।
दीठ से टोह कर नहीं, मन के उन्मेष से
उसे जानो : उसे पकड़ो मत।
उसी के होलो।

कहा आकाश ने भी : नहीं, शब्द
मत चाहो।
दाता की स्पर्द्धा हो जहाँ, मन होता है मँगते का।
दे सकते हैं वही जो चुप, झुक कर ले लेते हैं।

आकांक्षा इतनी है, साधना भी लाये हो ?
तुम नहीं व्याप सकते; तुम में जो व्यापा है
उसी को निबाहो।

यही कहा पर्वत ने,
यही घन-वन ने,
यही बोला झरना,
यों कहा सुमन ने।
तितलियाँ, पतंगे,
मोर और हिरने,
यही बोले सारस, ताल,
खेत, कुएँ, झरने।
नगर के राज-पथ,
चौबारे, अटारियाँ,
चीखती-चिल्लाती हुई दौड़तीं
जनाकुल गाड़ियाँ।
अग-जग एक मत !
मैं भी सहमत हूँ।
मौन, नत हूँ।

तब कहता है फूल : अरे, तुम मेरे हो।
वन कहता है : वाह, तुम मेरे मित्र हो।
नदी का उलाहना है : मुझे भूल जाओगे ?
और भीड़-भरे राज-पथ का : बड़े तुम विचित्र हो !
सभी के अस्पष्ट समवेत को
अर्थ देता कहता है नभ : मैंने प्राण तुम्हें दिये हैं,
आकार तुम्हें दिया है, स्वयं भले मैं शून्य हूँ।
हम सब सब-कुछ, अपना, तुम्हारा, दोनों दे रहे हैं तुम को

अनुक्षण;
अरे ओ क्षुद्र-मन !
और तुम हम को
एक अपनी वाणी भी हो
सौंप नहीं सकते ?

सौंपता हूँ।

सत्य तो बहुत मिले

खोज में जब
निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले।
कुछ नये कुछ पुराने मिले
कुछ अपने कुछ बिराने मिले
कुछ दिखावे कुछ बहाने मिले
कुछ अकड़ू कुछ मुँह-चुराने मिले
कुछ घुटे-मँजे सफ़ेदपोश मिले
कुछ दईमारे खानाबदोश मिले।
कुछ ने लुभाया
कुछ ने डराया
कुछ ने परचाया
कुछ ने भरमाया—
सत्य तो बहुत मिले
खोज में जब
निकल ही आया।
कुछ पड़े मिले
कुछ खड़े मिले
कुछ झड़े मिले
कुछ सड़े मिले।
कुछ निखरे कुछ बिखरे
कुछ धुंधले कुछ सुथरे
सब सत्य रहे

कहे, अनकहे।
खोज में जब
निकल ही आया
सत्य तो बहुत मिले।

पर तुम
नभ के तुम कि गुहा-गह्वर के तुम
मोम के तुम, पत्थर के तुम
तुम किसी देवता से नहीं निकले :
तुम मेरे साथ मेरे ही आँसू में गले
मेरे ही रक्त पर पले
अनुभव के दाह पर क्षण-क्षण उकसती
मेरी अशमित चिता पर
तुम मेरे ही साथ जले।
तुम—
तुम्हें तो
भस्म हो
मैंने फिर अपनी भभूत में पाया।
अंग रमाया।

तभी तो पाया।

खोज में जब
निकल ही आया,
सत्य तो बहुत मिले—
एक ही पाया।

मैं वहाँ हूँ

दूर दूर दूर...मैं वहाँ हूँ!
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—
जो है और जो होगा दोनों को मिलाता हूँ—
मैं हूँ, मैं यहाँ हूँ,
पर सेतु हूँ इस लिए
दूर दूर दूर...मैं वहाँ हूँ!

यह जो मिट्टी गोड़ता है
कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है
उस की मैं साधना हूँ।
यह जो मिट्टी फोड़ता है
मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है
उस की मैं आस्था हूँ।
यह जो कज्जल-पुता खानों में उतरता है
पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है,
यह जो नंगे बदन, दम साध, पानी में उतरता है
और बाजार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है,
यह जो कलम घिसता है
चाकरी करता है पर सरकार को चलाता है
उस की मैं व्यथा हूँ।
यह जो कचरा ढोता है,
यह जो झल्ली लिये फिरता है और बेघरा घूरे पर सोता है,

यह जो गदहे हाँकता है,
यह जो तन्दूर झोंकता है,
यह जो कीचड़ उलीचती है,
यह जो मनियार सजाती है,
यह जो कन्धे पर चूड़ियों की पोटली लिये गली-गली झाँकती है,
यह जो दूसरों का उतारन फींचती है;
यह जो रद्दी बटोरता है
यह जो पापड़ बेलता है, बीड़ी लपेटता है, वर्क कूटता है,
धौंकनी फूँकता है, कलई गलाता है, रेढ़ी ठेलता है,
चौक लीपता है, बासन माँजता है, ईटें उछालता है,
रुई धुनता है, गारा सानता है, खटिया बुनता है,
मशक से सड़क सींचता है,
रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है,
जो भी जहाँ भी पिसता है
पर हारता नहीं, न मरता है—
पीड़ित श्रमरत मानव
अविजित दुर्जेय मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा—
उस की मैं कथा हूँ।

दूर दूर दूर. . .मैं वहाँ हूँ—
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—
जो है और जो होगा, दोनों को मिलाता हूँ—
पर सेतु हूँ इस लिए
दूर दूर दूर. . .मैं वहाँ हूँ।

किन्तु मैं वहाँ हूँ

तो ऐसा नहीं है कि मैं यहाँ नहीं हूँ।
मैं दूर हूँ, जो है और जो होगा उस के बीच सेतु हूँ
तो ऐसा नहीं है कि जो है उसे मैंने स्वीकार कर लिया है।

मैं आस्था हूँ
तो मैं निरन्तर उठते रहने की शक्ति हूँ;
मैं व्यथा हूँ
तो मैं मुक्ति का श्वास हूँ,
मैं गाथा हूँ
तो मैं मानव का अलिखित इतिहास हूँ,
मैं साधना हूँ
तो मैं प्रयत्न में कभी शिथिल न होने का निश्चय हूँ,
मैं संघर्ष हूँ जिसे विश्राम नहीं,
जो है मैं उसे बदलता हूँ,
जो होगा उसे मुझे ही तो लाना है।
जो मेरा कर्म है, उस में मुझे संशय का नाम नहीं,
वह मेरा अपनी साँस-सा पहचाना है;
लेकिन घृणा—घृणा से मुझे काम नहीं
क्योंकि मैंने डर नहीं जाना है।
मैं अभय हूँ,
मैं भक्ति हूँ,
मैं जय हूँ।

दूर दूर दूर. . .मैं सेतु हूँ
किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं,
वह सेतु
जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है,
जो हृदय से हृदय को

श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को
विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है,
समूह का अनुभव जिस की मेहराबें हैं
और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से बहती है
मुड़ती, बल खाती,
नये मार्ग फोड़ती
नये करारे तोड़ती,
चिर परिवर्तनशीला, सागर की ओर जाती, जाती, जाती....
मैं वहाँ हूँ—दूर, दूर, दूर!

मरु और खेत

मरु बोला :
हाय यह हास्यास्पद ममता !
ओ रे खेत, किस हेतु यह यत्न, यह उथल-पुथल
यह—कह ही डालूँ—आडम्बर ?
देखना
जब बहेगी लू
जब पड़ेगा पाला
जब आयेगी बर्फ़ की बर्छियों से हाड़ों को भेदती-सी
उत्तर की निष्ठुर हवा,
झुलसेंगे, पाले से मरेंगे तुम्हारे पात-पात
अंकुर,
तब कैसा दर्द होगा !
मेरी—मुझ अचंचल की ओर देखो; मेरी यह सीख है :
ममता ही सर्व-दुःख-मूल है
बीज-मात्र वेदना का बीज है !

हँसा खेत : मरु काका, ठीक है।
होगा वही
लू बहेगी
पाला भी पड़ेगा
दुःख होगा ही।
किन्तु जब मेरी छाती फोड़ कर अंकुर एक फूटेगा
और भोली गर्व-भरी आस्था से निहारेगा,

तब—उस एकमात्र क्षण में—
किन्तु काका, आप से क्या कहूँ और...
नव-सर्जना में जो
अपने को होम कर होते हैं आनन्दमग्न
उन की तो दृष्टि और होती है!

टेसू

ग्रीष्म तो न जाने कब आयेगा
लू के दुर्दम दुर्मद घोड़े पर वह
अनलोद्भव अवतार-पुरुष
कब आ कर धरती को तपायेगा
उस ताप से जिस से वह तपःपूत
तपःकृशा
फिर माँग सके, सह सके वह पावस की मिलन-निशा।
जिस में नव मेघ-दूत
शावक-सा
आ कर अदम्य जीवन के
द्रावक सँदेसे से उसे हुलसायेगा—
ग्रीष्म तो न जाने कब आयेगा।

तब तक मैं उस का एक अकिंचन अग्रदूत
अपनी अखंड आस्था के साक्ष्य-रूप
मश्शाल जला दूँ—
न सही क्षयग्रस्त नगर में—
इस वन-खंडी में आग लगा दूँ!

वैशाख की आँधी

नभ अन्तर्ज्योतित है
      पीत किसी आलोक से,
बादल की काली गुदड़ी का मोती
टोह रही है बिजली
      ज्यों बरछी की नोक से।
कुछ जो घुमड़ रहा है क्षिति में
      उसे नीम के झरते बौर रहे हैं टोक-से :
'ठहरो—अभी झूम जावेगा अग-जग बरबस
      तीखे मद की झोंक से!'

हहर-हहर घहराया
काला बद्दल :
लेकिन पहले आया
झक्कड़
      जाने कहाँ-कहाँ की धूल का :
स्वर लाया सरसर पीपल का
मर्मर कछार के झाऊ का
खड़खड़ पलास का अमलतास का
      और झरा रेशम सिरीस के फूल का!

आया पानी :
अरी धूल झगड़ैल,
चढ़ी पछवा के कन्धों पर तू थी इतराती,

ले काट चिकोटी अब भी :
बस एक स्नेह की बूँद और तू हुई पस्त
पैरों में बिछ-बिछ जाती
सोंधी गन्ध उड़ाती ?
सह सकें स्नेह, वह और रूप होते हैं अरी अयानी !
नाच नाच मन, मुदित मस्त ;
आया पानी ।

इतिहास का न्याय

जो जिये वे ध्वजा फहराते घर लौटे।
जो मरे वे खेत रहे।

जो झूमते नगर लौटे, डूबे जय-रस में।
(खँड़रों के प्रेत और कौन हैं
जिन के मुड़े हो पैर पीछे को ?)

जो खेत रहे थे, वे अंकुरित हुए
इतिहासों की उर्वर मिट्टी में,
कुसुमित, पल्लवित हुए
स्वप्न-कल्पी लोक-मानस में।

साँप

साँप !

तुम सभ्य तो हुए नहीं

नगर में बसना

भी तुम्हें नहीं आया।

एक बात पूछूं—(उत्तर दोगे ?)

तब कैसे सीखा डँसना—

विष कहाँ पाया ?

विपर्यय

जो राज करें
उन्हें गुमान भी न हो
कि उन के अधिकार पर
किसी को शक है

और जिन्हें मुक्त जीना चाहिए
उन्हें अपनी कारा में
इस की खबर ही न हो
कि उन का यह हक है !

इतिहास की हवा

झरोखे में से बहती हवा का एक झोंका
इतराता आता है
और इतिहास के पन्नों को उड़ाता हुआ चला जाता है।
दिक्चक्रवाल से सिमट कर चाँदनी
झरोखे से झरती हुई
बिल्लौर-सी जम जाती है।

जमी हुई चाँदनी के झलमलाते ताजमहल के नीचे
बागड़ियों के झोंपड़ों के छप्पर उभर आते हैं
जिन के खर के आरी सरीखे किनारे मानों आँखों की कोरों को चीर
जाते हैं—
और छप्पर की छत पर बैठी एक भैंस पागुर कर रही है।

इतिहास के पन्नों पर पगुराती हुई भैंस की आँखों में
इतिहास के और पन्ने हैं
और उन में इतराती हुई बहकी हवाओं के दूसरे झोंके।
बागड़ियों के झोंपड़ों से झाँकते हैं जाने कितने चापहीन एकलव्य :
भैंस की आँखें मानों द्रोण की मिट्टी की मूरतें हैं।
ताजमहल के शिल्पियों के हाथ कटवा दिये गये थे,
द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अँगूठा माँग लिया था,
अभिनव द्रोण किन्तु कहता है :
'वत्स, वीर,
धरो चाप, साधो तीर,
धरती को विद्ध करो—

अमृत-सा कूप जल यहीं फूट निकले !'
और फिर चुपके से एकलव्य के नये कुएँ में भाँग डाल देता है।

(एकलव्य एक है
और आज आस्था भी उस में क्या जाने कहीं कम हो—
क्या जाने वह अँगूठा भी दे न दे—
पर कुएँ का पानी तो सारा समाज पियेगा !)

असंख्य झोपड़ियों से असंख्य बागड़िये एकलव्य
आते हैं, कमान तानते हैं, तीर साधते हैं,
कुएँ से पानी पीते हैं,
और फिर कहते हैं : 'धन्य, धन्य, गुरुदेव,
आपने अँगूठा नहीं माँगा जो :
पितरों को नहीं तो हम क्या दिखाते ?
लीजिए : हमारे संस्कार हम देते हैं,
पुरखों के झोंपड़ों में आग हम लगाते हैं,
घर-घर का भेद हम लाते हैं,
अपने को पराया—नहीं, आप का ! —बनाते हैं,
तनु हमें छोड़िए, मन आप लीजिए,
आत्मा तो होती ही नहीं, धनु हमें दीजिए।
दिग्बोध हम मिटा देंगे, दिग्विजय आप कीजिए।'

द्रोणाचार्य आँखों में भाँग भर
झोंपड़े से ऊँचा उठाते हैं वरद कर,
भैंस भाँग खाती है
और सारे एकलव्य
उस की आँखों में समा जाते हैं।

२

दिक्चक्रवाल से सिमट कर चाँदनी झरोखे से झरती हुई

बिल्लौर-सी जम जाती है :
बिल्लौर-सी, जिस में पहाड़ी झील का अपलक पानी है,
नभ की ओर उठी हिमालय की अपलक गीली आँख का
जिस में मुनिवृन्द तपस्या में रत हैं
और उन की पोष्य राज हंसावलियाँ अविराम
नीर-क्षीर विविक्त करती विचरती हैं।
नहीं नहीं नहीं ! ये हंसावलियाँ नहीं, ये ब्रह्मपुत्र की मछलियाँ हैं
जिन्हें चीनी सिपाहियों ने डायनामाइट लगा कर सन्न कर दिया है :
ये हज़ारों मछलियों की चिट्टी-चिट्टी पेटियाँ हैं जो धीरे-धीरे प्राणहीन
हो कर फूल जायेंगी
क्योंकि सिपाहियों को एक-आध मछली की भूख थी !
नहीं नहीं नहीं ! ये हज़ारों मछलियों की हज़ारों उलटी हुई चिट्टी पेटियाँ
बिकिनी से बह कर आयी हुई प्रशान्त सागर की सम्पदा है
जिसे अमरीकियों ने विस्फोटित अणु की विकिरित शक्ति से दूषित
कर दिया है !

ये हंसावलियाँ
नीर-क्षीर नहीं
अन्त-हीन सागर में विष-वपन कर रही हैं !

भैंस की आँखें
पहाड़ी झील का अपलक पानी
हंसावलियाँ
मछलियाँ
इतिहास के धुँधुआते छप्परों और उड़ते हुए पन्नों पर
टाँके गये बिम्ब, प्रतीक, रूपक, संकेत !

क्योंकि ये झुंड के झुंड चिट्टे-चिट्टे गाले
वास्तव में हमारे उन किशोर शिक्षार्थी बालकों के विश्वास-भरे
चमकते चेहरों की

सहसा विजड़ित हो गयी आँखें हैं
जिन के नैतिक मान हमने आधुनिकता के विस्फोट में उड़ा दिये
और जिन के शिक्षा-स्रोत हमने वशातीत विषों से दूषित कर दिये हैं।
क्या यह फूटा अणु
हमारा व्यक्तित्व है
हमारी आत्मा
हमारी इयत्ता है ?

३

झरोखे में से बहकी हवा का एक झोंका
इतराता हुआ आता है
और इतिहास के पन्नों को उड़ाता बिखेरता चला जाता है।
दिक्चक्रवाल से सिमट कर चाँदनी
झरोखे से झरती हुई
जम जाती है : वह एक स्फटिक का मुकुर है
जिस में मैं अपना चेहरा देख सकता हूँ।

मेरे चेहरे में बागड़ियों के झोंपड़ों से झाँकता है एकलव्य,
द्रोणाचार्य अभिसन्धि करते हैं
मुनियों की व्याजहीन आँखों में
पोष्य राजहंस-माला नीर-क्षीर करती है
लाख-लाख मछलियाँ पेटियाँ उलट कर दम तोड़ देती हैं :
मेरे चेहरे में भोले बालकों का भवितव्य का विश्वास है।

स्फटिक के मुकुर में मैं अपना चेहरा देख सकता हूँ :
लेकिन क्या वह चेहरा माँगा हुआ चेहरा है
और क्या मुझे लौटा देना होगा ?
क्या जीवन-पिंड और कीड़े-मकौड़े, केंचुए-केंकड़े,
विषैले-वनैले हिंस्र जन्तु से मानव तक की विकास-परम्परा /

माँगी हुई है और मुझे लौटा देनी होगी ?
क्या यह भोले बालकों के भवितव्य का विश्वास माँगा हुआ विश्वास है ?
क्या यह इतिहास माँगा हुआ इतिहास है
क्या यह विवेक का मुकुर भी माँगा हुआ मुकुर है
और क्या यह मुझे लौटा देना होगा
इस से पहले कि वह टूट जाय ?

मुकुर उत्तर नहीं देता :
न दे, मुकुर उत्तरदायी नहीं है।
इतिहास उत्तर नहीं देता, इतिहास भी उत्तरदायी नहीं है :
परम्परा भी उत्तरदायी नहीं है
चेहरा भी उत्तरदायी नहीं है।
पर झरोखे में से इतराता आता हुआ बहकी हवा का झोंका पूछता है :
मैं, मैं, क्या मैं भी उत्तरदायी नहीं हूँ ?
इतिहास के प्रति
चेहरे के प्रति
परम्परा के प्रति
मुकुर के प्रति
बालकों के भवितव्य के भोले विश्वास के प्रति
क्या मैं उत्तरदायी नहीं हूँ ?

मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ

मेरे आह्वान से अगर प्रेत जागते हैं
मेरे सगो, मेरे भाइयो,
तो तुम चौंकते क्यों हो ?
मुझे दोष क्यों देते हो ?
वे तुम्हारे ही तो प्रेत हैं।
तुम्हें किसने कहा था, मेरे भाइयो,
कि तुम अधूरे और अतृप्त मर जाओ ?

मैं तुम्हारे साथ जिया हूँ
तुम्हारे साथ मैंने कष्ट पाया है
यातनाएँ सही हैं
किन्तु तुम्हारे साथ मैं मरा नहीं हूँ
क्योंकि तुमने तुम्हारा शेष कष्ट भोगने के लिए मुझे चुना :
मैं अपने ही नहीं, तुम्हारे भी सलीब का वाहक हूँ
जिस के आसपास तुम्हारे प्रेत मँडराते हैं
और मेरे उस प्रयास पर चौंकते हैं
जिसे उन्होंने अधूरा छोड़ दिया था।

पर डरो मत,
मैं मरूँगा नहीं
क्योंकि मैं अधूरा नहीं मरूँगा, अतृप्त नहीं मरूँगा।
तुम मर कर प्रेत हो सकते हो क्योंकि तुम अपने हो,
मैं नहीं मर सकता क्योंकि मैं तुम्हारा हूँ,

मैं प्रतिभू हूँ, मैं प्रतिनिधि हूँ, मैं सन्देशवाहक हूँ
मैं सम्पूर्णता की ओर उठा हुआ तुम्हारा दुर्दमनीय हाथ हूँ।

मैं तुम्हें उलाहना नहीं देता क्योंकि तुम मेरे भाई हो
पर बोलो, मेरे भाइयो, मेरे सगो, तुम अधूरे और अतृप्त क्यों मर गये
जब कि मैं तुम्हारे भी अधूरेपन और अतृप्ति को ले कर जी सका हूँ
और तुम्हारी पूर्णता और तृप्ति के लिए जीता रह सकूंगा ?

मेरे आह्वान से अगर प्रेत जागते हैं
तो चौंको मत, पहचानो
कि वे तुम्हारे प्रेत हैं :
उन्हें अपलक देख सकोगे तो पहचानोगे
और जानोगे कि तुम भी अभी मरे नहीं हो;
कि पाप ने तुम्हें अभिभूत किया है
जड किया है
पर तुम्हारी आत्मा क्षरित नहीं हुई है।

अपने प्रेत के साथ हाथ मिला कर
तुम उस विकिरित शक्ति को फिर सम्पुंजित कर सकोगे :
वही संजीवन है
वही सम्पृक्ति है
वही मुक्ति है।
मेरे भाइयो, मेरे सगो,
मेरे आह्वान से चौंको मत,
मैं तुम्हारा प्रतिभू हूँ,
मुझ में जिस दायित्व का तुमने न्यास किया था
उस से मुझे मुक्त करो, और मेरे साथ
मुक्त हो जाओ, मेरे भाइयो !

जिस दिन तुम

जिस दिन तुम मार्ग पूछने निकले, उसी दिन
तुम तीर्थाटक से निरे बेघरे हो गये,
तुम्हारा पथ खो गया।
जिस दिन तुमने कहा, विवेक तो नाम है श्रद्धा के
अस्वीकार का, उस दिन तुम दास हुए तर्कना के
विवेक तुम्हारा सो गया।
फिर भी तुम मरे नहीं :
तुम से तुम्हारी सम्भावनाएँ बड़ी हैं।
वही, ओ आलोक-सुत, पिता तम-भ्रान्ति के,
आज भी तुम्हारा दीपस्तम्भ बन खड़ी हैं।
चलो : अभी आस है
कितना बड़ा सम्बल तुम्हारे पास है
कि तुम में कहीं पहुँचने की चाह है।
यह तुम छटपटाते हो
कि काँटों में उलझ गये,
चट्टान से टकराये, बीहड़ में फँस गये,
फिसलन थी, रपटे; गिरे खड्ढ-खाई में,
कहीं कीच-दलदल में धँस गये,
लम्बी अँधियाली किसी घाटी में
टेढ़े-मेढ़े कोस पर कोस नापते रहे,
लम्बी अँधियाली शीत रात में
बिना दूर दीप तक के सहारे के ठिठुरते-काँपते रहे

गिरते, पड़ते, मुड़ते, पलटते,
कभी पैर सहलाते, कभी माथा पोंछते
चले तुम जा रहे हो खीझते, झींकते, सोचते
कि लक्ष्य जाने कहाँ है, किधर है,
(है भी या कि भ्रम है !)—
बीहड़ में अकेले भी निश्चिन्त रहो !
स्थिर जानो :
अरे यही तो सीधी क्या, एक मात्र राह है !

शाश्वत सम्बन्ध

क्रमशः मृत्यु : मृत्यु भी सत्य ही है;
उसे हम छोड़ नहीं सकते।
हाँ, शिवता, सुन्दरता हम उसे दे सकते हैं।
अभी किन्तु जीवन : अन्तहीन तपस्या जिस से
हम मुँह मोड़ नहीं सकते।

यह सम्बन्ध (या विपर्यास ?) शाश्वत है क्योंकि इसे
हम चाहे जिस अर्थ में ले सकते हैं।

रेंक

रेंक रे रेंक
        गधे
रेंक रे रेंक

कुटिया के पीछे का
आँगन डेढ़ बित्ते का
छेंक ले छेंक
        गधे
रेंक रे रेंक।

रेंक रे रेंक
        गधे
रेंक रे रेंक

अपने ही रूप पर
होता लोट-पोट, टाँगें
नभ की ओर फेंक रे फेंक
        गधे
ऊँट का साक्ष्य क्या ?
रेंक रे रेंक।

    अन्योक्ति ? उँह, होगी :
    गधा होगा सो होगा,
    पर बोलिए :
        ऊँट क्या आप हैं ?

नयी कविता : एक सम्भाव्य भूमिका

आपने दस वर्ष हमें और दिये
बड़ी आपने अनुकम्पा की।
हम नत-शिर हैं।
हम में तो आस्था है : कृतज्ञ होते
हमें डर नहीं लगता कि उखड़ न जावें कहीं।

दस वर्ष और !
पूरी एक पीढ़ी !
कौन सत्य अविकल रूप में
जी सका है अधिक ?
अवश्य आप हँस लें :
हँस कर देखें फिर साक्ष्य इतिहास का
जिस की दुहाई आप देते हैं।
बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण को
कितने हुए थे दिन
ठेर-महासभा जब जुटी यह खोजने कि
सत्य तथागत का
कौन-कौन मत-सम्प्रदायों में विला गया ?
और ईसा—
(जिन का कि पट्टशिष्य ने
मरने से कुछ क्षण पूर्व ही था कर दिया प्रत्याख्यान)
जिस मनु-पुत्र के लिए थे शूल पर चढ़े—
उसे जब होश हुआ सत्य उन का खोजने का
तब कोई चारा ही बचा न था—

इस के सिवा कि वह खड्गहस्त
दसियों शताब्दियों तक
अपने पड़ोसियों के गले काटता चले।
('प्यार करो अपने पड़ोसियों को आत्मवत्'—
कहा था मसीहा ने !)
'सत्य क्या है ?' बेसिनी में पानी मँगा लीजिए :
सूली का सुना के हुक्म
हाथ धोये जायेंगे !

बुद्ध : ईसा : दूर हैं।
जिस का थपेड़ा स्वयं हम को न लगे वह
कैसा इतिहास है ?
ठीक है।
आप का जो 'गान्धियन' सत्य है
उस को क्या यही सात-आठ वर्ष पहले
गान्धी पहचानते थे ?

तुलना नहीं है यह। हम को चर्राया नहीं
शौक मसीहाई का।
सत्य का सुरभि-पूत स्पर्श हमें मिल जाय
क्षण भर :
एक क्षण उस के आलोक से सम्पृक्त हो
विभोर हम हो सकें—
और हम जीना नहीं चाहते :
हमारे पाये सत्य के मसीहा तो
हमारे मरते ही, बन्धु, आप बन जायेंगे !

दस वर्ष।
दस वर्ष और ! वह बहुत है।

हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें—
उस की विविक्त अद्वितीयता
आप को, कमपि को, क ख ग को
अपनी-सी पहचनवा सकें,
रसमय कर के दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिए वही है।
अजिर अमर है
वेदितव्य
अक्षर है।

एक क्षण : क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।
इस से कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने।

एक क्षण। होने का
अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण!
होने के सत्य का
सत्य के साक्षात् का
साक्षात् के क्षण का
क्षण के अखंड पारावार का
आज हम आचमन करते हैं।
और मसीहाई?
संकल्प हम उस का
करते हैं आप को :
'जम्बूद्वीपे भरतखंडे
अमुक शर्मणा मया।'

मेरे विचार हैं दीप

मेरे विचार हैं दीप
मेरा प्यार ? वह आकाश है।
वे नहीं देते उसे आलोक
वह भी स्नेह उन को नहीं देता।
अलग दोनों की इयत्ता है।

किन्तु उन की ओट ही
गहराइयाँ उस की झलकती हैं
और उस के सामने ही सत्य उन का रूप
दिखता है विशद
सहसा अनिर्वचनीय !

मेरा प्यार ? वह आकाश है।

क्योंकि तुम हो

मेघों को सहसा चिकनी अरुणाई छू जाती है
तारागण से एक शान्ति-सी छन-छन कर आती है
क्योंकि तुम हो।

फुटकी की लहरिल उड़ान
शाश्वत के मूक गान की स्वर लिपि-सी
संझा के पट पर अँक जाती है
जुगनूँ की छोटी-सी द्युति में नये अर्थ की
अनपहचाने अभिप्राय की किरण चमक जाती है
क्योंकि तुम हो।

जीवन का हर कर्म समर्पण हो जाता है
आस्था का आप्लवन एक संशय के कल्मष धो जाता है
क्योंकि तुम हो।

कठिन विषमताओं के जीवन में लोकात्तर सुख का स्पन्दन
मैं भरता हूँ
अनुभव की कच्ची मिट्टी को तदाकार कंचन करता हूँ
क्योंकि तुम हो।

तुम तुम हो; मैं—क्या हूँ?
ऊँची उड़ान, छोटे कृतित्व की लम्बी परम्परा हूँ,
पर कवि हूँ, स्रष्टा, द्रष्टा, दाता :
जो पाता
हूँ अपने को भट्ठी कर उसे गलाता-चमकाता हूँ

अपने को मट्टी कर उस का अंकुर पनपाता हूँ
पुष्प-सा, सलिल-सा, प्रसाद-सा,
कंचन-सा, शस्य-सा, पुण्य-सा,
अनिर्वच आह्लाद-सा लुटाता हूँ
क्योंकि तुम हो।

यही एक अमरत्व है

ना, ना :
फेर नहीं आतीं ये सुन्दर रातें
ना ये सुन्दर दिन।
नहीं बाँध कर रक्खा जाता
छोटा-सा पल छिन।
चढ़ डोले पर चली जा रही
काल की दुलहिन।
साथी,
उसी गैल में तुम स्वेच्छा से
अपना घोड़ा डाल दो,
यह जो अप्रतिहत संगीत है
तुम भी उस पर ताल दो।
यह सुन्दर है, यह शिव है,
यह मेरा हो, पर बँधा नहीं है मुझ से
निजी धर्म से मर्त्य है।
जीवन निस्संग समर्पण है
जीवन का
एक यही तो सत्य है।
जो होता है जब होता है तब
एक बार ही सदा के लिए हो जाता है :
यही एक अमरत्व है।
क्षण-क्षण जो मरता दिखता है
अविरल अन्तःसत्व है।

जीवन की गति धारा है
या एक लड़ी है—
क्रम तो अनवच्छिन्न है
हर क्षण आगे-पीछे
बँधा हुआ है, इसी लिए पर
अद्वितीय है, भिन्न है।
परे मनुज से नहीं कहीं कुछ:
इसी तर्क से
जीवन स्वतः प्रमाण है।
दो, दो, खुले हाथ से दो:
कि अस्मिता-विलय
एक मात्र कल्याण है।
ना, कुछ फेर नहीं आने का, साथी,
ना ये दिन, ना रात,
फेर नहीं खिलने वाले हैं
एक अकेली सरसी के ये
अद्वितीय जलजात।
इसे मान लो: तदनन्तर यदि
रुकना चाहो, रुक लो,
विलमाने में रस लो।
या फिर
हँसने का ही मन हो
तो वह हँसी दिव्य है:
हँस लो।

रूप की प्यास

दृश्य के भीतर से
सहसा कुछ उमड़ कर बोला :
सुन्दर के सम्मुख यह तुम्हारी जो उदासी है—
वह क्या केवल रूप, रूप, रूप, की प्यासी है ?
जिसने बस रूप देखा है
उसने बस
भले ही कितनी भी उत्कट लालसा से
केवल कुछ चाहा है
जिसने पर दिया अपना है दान
उसने अपने को, अपने साथ सब को,
अपनी सर्वमयता को निबाहा है।

मैं गिरा : पराजय से, पीड़ा से
लोचन आये भर-से
पर मैंने मुँह नहीं खोला।

घुमड़न के बाद

अब हम फिर साथ हैं।
न जाने कैसे, प्रमादवश, थोड़ा भटक गये थे।
तभी चुपके से ऊपर से काले बादल लटक गये थे।
हमारे तारे—स्थिर निष्ठावान्—कुहासे में अटक गये थे।
इतनी तो बात है।

तारे दूर हैं, बादल है चंचल : झट से घेर लेते हैं।
इसी भ्रम में हम इस गहरी सचाई से मुँह फेर लेते हैं
कि तारे स्पर्श से परे हैं;
ओझल हों, पर हीरे से वहीं पर धरे हैं,
और वज्र-से अमिट हैं लेखे जो उन्होंने हमारे हृत्पट पर उकेरे हैं।
(भाग्य के नहीं, प्रत्ययों के, जो मार्ग-संगी तेरे-मेरे हैं।)
यों ही हमें लगता है कि बड़ी डरावनी रात है।

मार्ग कभी धुँधला हो, दिक्चक्र थोड़े ही खो जाता है
ज्ञान अधूरा है, सही; विवेक थोड़े ही सो जाता है?
आस्था न काँपे, मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।
तेरा वरद, मेरा अभयद, यों हमारे हाथ हैं।

अब हम फिर साथ हैं।

पुनर्दर्शनाय

कब, कहाँ, यह नहीं।
        जब भी जहाँ भी हो जाय मिलना।
केवल यह : कि जब भी मिलो
        तब खिलना।

एक रोगिणी बालिका के प्रति

सीखा है तारे ने उमँगना
जैसे धूप ने विकसना,
हरी घास ने पैरों में लोट-लोट
बिछलना - बिलसना,
और तुमने - पगली बिटिया—
हँसना हँसना हँसना,

सीखा है मेरे भी मन ने उमसना,
मेरी आँखों ने बरसना,
और मेरी भावना ने
आशीर्वाद के सुवास-सा
तुम्हारे आस-पास बसना !

आदम को एक पुराने ईश्वर का शाप

जाओ
अब रोओ—
जाओ !

सोओ
और पाओ
जागो
और खोओ
स्मृति में अनुरागो
वास्तव में
खून के आँसू रोओ।

बार-बार
निषिद्ध फल खाओ
बार-बार
शत्रु का प्रलोभन तुम जानो
आँसू में, खून में, पसीने में
हार-हार
मुझे पहचानो ।

मृषा को वरना
तृषा से मरना
लौट-लौट आना
मार्ग कहाँ पाना ?

रोओ, रोओ, रोओ—
जाओ !

गोवर्द्धन

कल जो जला रहे थे दीप
आज संलग्न-भाव से माँज रहे हैं फ़र्श
कि कैसे दाग़ तेल के छूटें।

कल घर में दीवाली थी,
आज गली में
छोकरे कर रहे विमर्श
कि कैसे गल कर बही मोम वे लूटें।

कल हम पुकार कर कहते थे
'अरे हमें भी कोई गलबहियाँ दो!'
आज यह रटना है :
'नहीं-नहीं, यह मार्ग रपटना है,
राम रे, कैसे भव-बन्धन टूटें!'

सीढ़ियाँ

अम्बार है जूठी पत्तलों का :
निश्चय ही पाहुने आये थे।

बिखरी पड़ी हैं डालियाँ - पत्तियाँ :
किसी ने तोरण सजाये थे।

गली में मचा है कोहराम भारी :
मुफ़्त का पैसा किसी ने पाया था।

उठती है आवाज़ तीखे क्रन्दन की :
निश्चय ही बहू कोई लाया था।

मलाबार का एक दृश्य

तालों के जाल
घने, कहीं लदे-छदे
कहीं ठूँठ तने; केलों के कुंज
बने, सीसल की मेंड़ बंधे।

कबरी में खोंस फूल
गुड़हल का सुलगे अंगार-सा
साड़ी लाल धारे
—ज्वाल-माल डाले
मूर्ति आबनूस काठ की—
सेंहुड़ के सामने कँटीली खड़ी
बाला मलाबार की।

महानगर : रात

धीरे धीरे धीरे चली जायेंगी
सभी मोटरें, बुझ जायेंगी
सभी बत्तियाँ, छा जायेगा
एक तनाव-भरा सन्नाटा
जो उस को अपने भारी बूटों से रौंद-रौंद चलने वाले
वर्दीधारी का
प्यारा नहीं, किन्तु वाञ्छित है।

तब जो
पत्थर-पिटी पटरियों पर इन
अपने पैर पटकता और घिसटता
टप्-थब्, टप-थब्, टप-थब्,
नाम हीन आयेगा,

तब जो
ओट खड़ी खम्भे के अँधियारे में चेहरे की मुर्दनी छिपाये
थकी उँगलियों से सूजी आँखों से रूखे बाल हटाती
लट की मैली झालर के पीछे से
बोलेगी :
'दया कीजिए, जेंटिलमैन...'
और लगेगा झूठा जिस के स्वर का दर्द
क्योंकि अभ्यास नहीं है अभी उसे सच के अभिनय का,

तब जो
ओठों पर निर्बुद्धि हँसी चिपकाये

मानो सीलन से विवर्ण दीवार पर लगा किसी पुराने
कौतुक - नाटक का फटियल-सा इश्तहार हो,
कुत्तों के कौतूहल के प्रति उदासीन
उस के प्रति भी जिस को तुम ने सन्नाटे की रक्षा पर तैनात किया है,
धुआँ-भरी आँखों से अपनी परछाईं तक बिन पहचाने,
तन्मय
हाँ, सस्ती शराब में तन्मय
चला जा रहा होगा
धीरे धीरे धीरे—

बोलो, उस को देने को है
कोई उत्तर?
होगा?

होगा?
क्या? ये खेल-तमाशे, ये सिनेमाघर और थियेटर?
रंग-बिरंगी बिजली द्वारा किये प्रचारित
द्रव्य जिन्हें वह कभी नहीं जानेगा?
यह गलियों की नुक्कड़-नुक्कड़ पर पक्के पेशाबघरों की सुविधा,
ये कचरा-पेटियाँ सुघड़, रंगीन (आह,
कचरे के लिए यहाँ कितना आकर्षण!)?

असन्दिग्ध ये सभी सभ्यता के लक्षण हैं
और सभ्यता
बहुत बड़ी सुविधा है
सभ्य, तुम्हारे लिए।
किन्तु क्या जाने
ठोकर खा कर कहीं रुके वह
आँख उठा कर ताके

और अचानक तुम को ले पहचान
अचानक पूछे
धीरे धीरे धीरे
'हाँ, पर मानव,
तुम हो किस के लिए ?'

हवाई यात्रा : ऊँची उड़ान

यह ऊपर आकाश नहीं, है
रूपहीन आलोक मात्र। हम अचल-पंख
तिरते जाते हैं
भार-मुक्त।
नीचे यह ताजी धुनी रुई की उजली
बादल-सेज बिछी है
स्वप्न-मसृण :
या यहाँ हमीं अपना सपना हैं?

लेकिन उतरो :
इस झीनी चादर में है जो घुटन, भेद कर आओ।
दीखीं क्या वे दूर लकीरें
धुँधली छायाएं—कुछ काली, कुछ चमकीली,
मुग्धकरी कुछ, कुछ लहरीली?
होती मूर्त्त महानगरी है
संसृति के अवतंस मनुज की कृति वह
अविश्राम उद्यम की कीर्तिपताका!

उतरो थोड़ा और
घनी कुछ हो आने दो
रासायनिक धुन्ध के इस चीकट कम्बल की नयी घुटन को :
मानव का समूह-जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा है!

उतरो
थोड़ा और :
धरा पर ।
हाँ, वह देखा ?
लगते ही आघात ठोस धरती का
धमनी में भारी हो आया मानव-रक्त और कानों में
गूंजा सन्नाटा संसृति का !

उतरो थोड़ा और :
साँस ले गहरी
अपने उड़नखटोले की खिड़की को खोलो
और पैर रक्खो मिट्टी पर :
खड़ा मिलेगा
वहाँ सामने तुम को
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
नर, जिस की अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है !

पश्चिम के समूह-जन

एक मृषा जिस में सब डूबे हुए हैं—
क्योंकि एक सत्य जिस से सब ऊबे हुए हैं।
एक तृषा जो मिट नहीं सकती इस लिए मरने नहीं देती;
एक गति जो विवश चलाती है इस लिए कुछ करने नहीं देती।
स्वातन्त्र्य के नाम पर मारते हैं मरते हैं
क्योंकि स्वातन्त्र्य से डरते हैं।

सागर और गिरगिट

सागर भी रंग बदलता है
गिरगिट भी रंग बदलता है
सागर को पूजा मिलती है
गिरगिट कुत्सा पर पलता है

सागर है बली : बिचारा गिरगिट
भूमि चूमता चलता है।
ग यह : गिरगिट का जीवनमय होना ही
हम मनुजों को खलता है ?

ओ लहर

जिधर से आ रही है लहर
अपना रुख
उधर को मोड़ दो,
तट से बाँधती हैं जो शिराएँ
मोह उन का छोड़ दो,
वक्ष सागर का नहीं है राजपथ :
लीक पकड़े चल सकोगे तुम उसे
धीमे पदों से रौंदते—
यह दुराशा छोड़ दो !

आज यह उल्लास, यह आनन्द
वह जाने कि जिस से
अनगिनत बाहें बढ़ा कर
ढीठ याचक-सा लिपटता अंग से
माँगता ही माँगता सागर रहा है
और जिसने
जोड़ कर कुछ नहीं रक्खा—
सदा बढ़-बढ़ कर दिया है—
जो सदा उन्मुक्त हाथों, मुक्त मन
देता रहा है;
अन्तहीन अकूल अथाह सागर का थपेड़ा
सदा जिसने समुद
छाती पर सहा है।

आह! यह उल्लास, यह आनन्द, वह जाने
बहा है
सनसनाता पवन जिस की लटों से छन कर ;
थम गयी है तारिका
जिस के लिए
व्योम-पट पर जड़ी
हीरे की कनी-सी ज्वलित जय-संकेत-सी बन कर
हर लहर ने झोर कर जिस को
अनागत ज्योति का स्पन्दित सँदेसा भर
कहा है।

जिधर से आ रही है लहर
अपना रुख
उधर को मोड़ दो :
तरी
सागर की सुता है
संगिनी है पवन की,
उसे मिलने दो ललक कर
लहर से :
वहीं उस को जय
मिलेगी तो मिलेगी
या मिलेगी लय,
असंशय
तुम तरी को छोड़ दो
बढ़ती लहर पर!

डर?
कौन? किस का?

हरहराती आ, लहर, मेरी लहर,
फेन के अनगिन किरीटों को झुका कर
तू मुखर
आह्वान कर
मेरा, मुझे वर !
जिधर से आ रही है तू
जिधर से मुझ पर थपेड़े पड़ेंगे अविराम
उधर ही तो मुक्त पारावार है।
दुर्द्धर लहर
तू आ।

ओ दुर्दान्त अथाह सागर
की लहर,
दूर पर ध्रुव
अजाने पर प्रेय
मेरे ध्येय
मेरे लक्ष्य की
गम्भीर
अर्थवती डगर
ओ लहर !

जिधर से आ रही है लहर
अपना रुख
उधर को मोड़ दो
तरी अपनी
चिर असंशय
लहर ही पर छोड़ दो !

खुल गयी नाव

खुल गयी नाव
घिर आयी संझा, सूरज
डूबा सागर-तीरे।
धुंधले पड़ते से जल-पंछी
भर धीरज से
मूक लगे मँडलाने,
सूना तारा उगा
चमक कर
साथी लगा बुलाने।

तब फिर सिहरी हवा
लहरियाँ काँपीं,
तब फिर मूर्छित
व्यथा विदा की
जागी धीरे-धीरे।

तुम कदाचित् न भी जानो

मंजरी की गन्ध भारी हो गयी है
अलस है गुंजार भौंरे की—
        अलस और उदास।
क्लान्त पिक रह-रह तड़प कर कूकता है।
        जा रहा मधु-मास।
मुस्कराते रूप!
तुम क़दाचित् न भी जानो—
                यह विदा है।

ओस - मधुकण : वस्त्र सारे सीझ कर श्लथ हो गये हैं।
रात के सहमे चिहुँकते बाल-खग अब निडर हो चुप हो गये हैं।
अटपटी लाली उषा की
        हुई प्रगल्भ, विभोर।
उमड़ती है लौ दिये की
            जा रहा है भोर।
ओ विहँसते रूप!
तुम कदाचित् न भी जानो—
                यह विदा है।

साँझ मोड़ पर विदा

हाँ, यह मोड़ आ गया।
जाओ पथ के साथी
और न बिलमो।
मेरी मंजिल अनजानी है
दूर तुम्हारी क्या कम होगी ?
और न बिलमो, जाओ।
पथ के साथी।

हाँ, उस आर्द्र भाव को रहने दो बाष्पाकुल
वह मेरा पहचाना है।
धन्यवाद का पात्र ? मैं नहीं, पथ है।
पथ ने ही मुझ को प्रतिभा दी—
यह मोड़ कसक अब देगा।
और न बिलमो
जाओ, पथ के साथी।

और तुम्हारी यह अनकही आर्द्रता—
(इसी नदी पर तिर आती है नौका सरस्वती की)—
मुझ को देगी वाणी।
और न बिलमो

जाओ।

कोई पथ का मोड़ किसी को अलग नहीं करता है
जैसे पथ का संगम मन का घटक नहीं है।

और तुम्हारे लिए ? धार तीक्ष्ण हो संवेदन की—
नये क्षितिज खुलते जावेंगे
नये अरुण पथ लहरावेंगे :
        किन्तु न बिलमो—
ये अनकहनी और न अब मुझ से कहलाओ—
पथ के साथी
जाओ।

कोई कहे या न कहे

यह व्यथा की बात कोई कहे या न कहे।
सपने अपने झर जाने दे
झुलसाती लू को आने दो
पर उस अक्षोभ्य तक केवल मलय समीर बहे।

यह बिदा का गीत कोई सुने या न सुने।
मेरा पथ अगम अँधेरा हो
अनुभव का कटु फल मेरा हो
वह अक्षत केवल स्मृति के फूल चुने!

एक-छाप

एक छाप रंगों की
एक छाप ध्वनि की
एक सुख स्मृति का
एक व्यथा मन की।

धूप-बत्तियाँ

ये
तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं
धूप की।
डोरियाँ दो गन्ध की
जो न बोलें
किन्तु तुम को छू सकें।
जो
विदेही स्निग्ध बाहों से तुम्हें
वलयित किये रह जायँ।

क्या है और मेरे पास ?
हाँ, आस :
मैं स्वयं तुम तक पहुँच सकता नहीं
पर भाव के कितने न जाने सेतु
अनुक्षण बाँधता हूँ—

आस !
तुम तक
और
तुम तक
और
तुम तक ! . . .

चातक पिउ बोलो

चातक पिउ बोलो बोलो।
झम-झम-झम पानी
सुन - सुन रात बिहानी
दिग्वधु घूंघट खोलो खोलो !

नभ खुल-खुल खिल आया
भू-पट हरियाया
मन-विहग ! पंख तोलो तोलो !

आगन्तुक

आँख ने देखा
पर वाणी ने बखाना नहीं।
भावना ने छुआ
पर मन ने पहचाना नहीं।
राह मैंने बहुत दिन देखी, तुम
उस पर से आये भी, गये भी,
कदाचित् कई बार—
पर हुआ घर आना नहीं।

क्यों आज

हम यहाँ आज बैठे-बैठे
हैं खिला रहे जो फूल खिले थे
कल, परसों, तरसों - नरसों।
यों हमें चाहते बीत गये
दिन पर दिन, मास-मास, बरसों।

जो आगे था वह हमने कभी नहीं पूछा :
वह आगे था, हम बाँध नहीं सकते थे उस सपने को
और चाहते नहीं बाँधना।
अन्धकार में अनपहचाने धन की
हम को टोह नहीं थी; हम सम्पन्न समझते थे अपने को।

जो पीछे था वह जाना था, वह धन था।
पर आकांक्षा-भरी हमारी अंगुलियों से हटता-हटता
चला गया वह दूर, दूर
छाया में, धुंधले में, धीरे-धीरे
अन्धकार में लीन हुआ।
यों वृत्त हो गया पूर्ण : अँधेरा हम पर जयी हुआ।
क्योंकि हमारी अपनी आँखों का आलोक
नहीं हम जान सके,
क्योंकि हमारी गढ़ी हुई दो प्राचीरों के बीच बिछा
उद्यान नहीं पहचान सके—
चिर-वर्त्तमान का निमिष, प्रभामय,

भोले शिशु-सा किलक-भरा निज हाथ उठाये
स्पन्दनहीन हुआ।

क्यों आज समूची वन-खंडी का चकित पल्लवन
सहज स्वयं हम जी न सकें
क्यों उड़ता सौरभ खुली हवा का फिर
जड़-जंगम को लौटे—हम पी न सकें ?

क्यों आज घास की ये हँसती आँखें हम अन्धे रौंद सकें
इस लिए कि बरसों पहले कल वह जो फूला था
फूल अनोखा
अग्निशिखा के रंग का सूरजमुखी रहा ?

योगफल

सुख मिला :
उसे हम कह न सके।
दुख हुआः
उसे हम सह न सके।
संस्पर्श वृहत् का उतरा सुरसरि-साः
हम बह न सके।
यों बीत गया सब : हम मरे नहीं, पर हाय ! कदाचित्
जीवित भी हम रह न सके।

पुरुष और नारी

सूरज ने खींच लकीर लाल
नभ का उर चीर दिया।
      पुरुष उठा, पीछे न देख मुड़ चला गया।
यों नारी का, जो रजनी है, धरती है,
बधुका है, माता है,
      प्यार हर बार छला गया।

बार-बार अथ से

आँखें देखेंगी तो
    आकृति अन्धकार में सोयी।
कान सुनेंगे
    लय निःस्वन में खोयी।
याद करेगा मन तो
    स्तम्भित चिन्तन का पल
आत्मा पकड़ेगी तो
    निराकार का आँचल।

बार-बार अथ से ही
    यह पूरा होगा जीवन
सब कुछ दे कर ही तो
    कह पाऊँगा : ओ धन!
    ओ धन, ओ मेरे धन!

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में :
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
        बिछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख-भर देखा।

दिया मन को दिलासा—पुन: आऊँगा
        भले ही बरस-दिन—अनगिन युगों के बाद !
क्षितिज ने पलक-सी खोली
तमक कर दामिनी बोली :
        'अरे यायावर, रहेगा याद ?'

सूर्यास्त

धूप
—माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी शिशु-वदन पर—
हुई भासित
नये चीड़ों से कँटीली पार की गिरि-श्रृंखला पर :

गीति :

मन पर वेदना के बिना
तर्कातीत, बस स्वीकार से ही सिहर कर
बोला :
'नहीं, फिर आना नहीं होगा।'

शब्द

किसी को
शब्द हैं कंकड़ :
कूट लो, पीस लो,
छान लो, डिबियों में डाल दो
थोड़ी-सी सुगन्ध दे के
कभी किसी मेले के रेले में
कुंकुम के नाम पर निकाल दो।

किसी को
शब्द हैं सीपियाँ :
लाखों का उलट-फेर
कभी एक मोती मिल जायेगा :
दूसरे सराहेंगे—
डाह भी करेंगे कोई
पारखी स्वयं को मान पायेगा।

किसी को शब्द हैं नैवेद्य।
थोड़ा-सा प्रसादवत्,
मुदित, विभोर वह पाता है
उसी में कृतार्थ, धन्य,
सभी को लुटाता है
अपना हृदय
वह प्रेममय।

हमने पौधे से कहा

हमने पौधे से कहा
मित्र, हमें फूल दो।
उस की फुनगी से चिनगियाँ दो फूटीं
डाली से उसने फुलझड़ी छोड़ दी :
हम मुग्ध देखते रहे
कि कब कली फूटे—
कि कायश्री उस की समीरण में झूम गयी,
हमें जान पड़ा, कहीं गन्ध की फुहारें झर रही हैं
और देखा सहसा :
लच्छा-सा डोंड़ियों का
गुच्छा एक फूल का।
हम मुग्ध ताका किये।

किन्तु हम जो देखते थे
क्या वह निर्माण था ?
गुच्छे हम नोच लें
परन्तु
वही क्या सृष्टि है ?
मिट्टी के नीचे
जहाँ एक बुदबुदाता अन्धकार था
कीड़े आँख-ओट कुलबुलाते थे
रिसता था जिस की नस-नस में
मैल किस-किस का और कब-कब का
(काल की तो सीमा नहीं

दश की अगर हो
हम नहीं जानते :
और मैल दोनों का—
सीमाहीन काल का, व्यासहीन देश का—
माटी में रिसता है, मिसता है,
सोखता ही रहता है)—
मिट्टी के नीचे
बुदबुदाते अन्धकार में
पौधे की जड़ क्रियमाण थी :
पौधे का हाथ ? आँख ?
जीभ ? त्वचा ?
पौधे का बोध ? प्राण ?
चेतना ?
मिट्टी के नीचे क्रियमाण थी
पौधे की जड़ :
सृष्टि - शक्ति
आद्य मातृका।

ऊपर वह हँसता - सिहरता था
और हम देख-देख खिलते
विहरते थे
किन्तु वह अनुपल, अनुक्षण
और, और गहरे
टोहता था बुदबुदाते उस अन्धकार में :
सड़ा दे दो
गला दे दो
पचा दे दो
कचरा दो राख दो अशुच दो उच्छिष्ट दो—

वह तो है सृजन-रत
उसे सब रस है।

उसे सब रस है
और इस हेतु (हम जानें या न जानें यह)
हमें सारे फूल हैं,
घास-फूस, डाल-पात,
लता-क्षुप
ओषधि-वनस्पति, द्रुमाली, वन-वीथियाँ।
रूप-सत्य, रस-सत्य, गन्ध-सत्य,
रूप-शिव।

मित्र, हमें फूल दो—
हमने पौधे से कहा।

हमने फिर कवि से भी कहा :
बन्धु, हमें काव्य दो।

किन्तु तुम (नभचारी!) मिट्टी की ओर मत देखना,
किन्तु तुम (गतिशील!) जड़ें मत छोड़ना,
किन्तु तुम (प्रकाश-सुत!) टोहना न कभी अन्धकार को,
किन्तु तुम (रससिद्ध!) कर्दम से नाता मत जोड़ना,
किन्तु तुम (ओ स्वयम्भू!) पुष्टि की अपेक्षा मत रखना!

गहरे न जाना कहीं,
आँचल बचाना सदा,
दामन हमेशा पाक रखना,
पंकज-सा पंक में
कंज-पत्र में सलिल-सा
तुहिन की बूँद में प्रकम्प हेम-शिरा सा

असम्पृक्त रहना।
धाक रखना
लाज रखना नाम रखना
नाक रखना।

बन्धु, हमें काव्य दो,
सुन्दर दो, शिव दो, सार-सत्य दो,
किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु—
हमने कवि से कहा।

बर्फ़ की झील

चट-चट-चट कर सहसा तड़क गये हिमखंड
जमे सरसी के तल पर :
लुढ़क-पुढ़क कर स्थिर . . .
वसन्त का आना
—यद्यपि पहले नहीं किसी ने जाना—
होता रहा अलक्षित ।

नयी किरण ने छुए शृंग : हो गये सुनहले
बहते सारे हिमद्वीप । हाँ, गाओ,
'हेम-किरीटी राजकिशोरों का दल
नव-वसन्त के अभिनन्दन को मचल रहा है ।'
गाओ, गाओ, गान नहीं झूठा हो सकता !

गाओ !
पर ये हेम-मुकुट हैं केवल :
दूर सूर्य्य के लीला-स्मित से शोभन
कौतुक-पुतले ।
नीचे की हिमशिला पिघल कर जिस दिन
स्वयं मिलेगी सरसी-जल में
नव-वसन्त को उस दिन
उस दिन उस दिन
मेरा शीश झुकेगा !

क्योंकि तपस्या
चमक नहीं है,
वह है गलना :
गल कर मिट जाना—मिल जाना—
पाना।

साधुवाद

उसे नहीं जो बरसाता है
स्वाति-बूंद, जो
हरसाता है
सागर-तल की सोयी सीपी को, तल पर ला
सरसाता है।
ताकि सहज मुक्ता वह दे दे
सीपी सोती।

नहीं ! साधुवाद उस को जो कहीं अनवरत
भर कौशल से
हाथ अनमने,
निर्मम बल से
एक-एक सीपी का मुख खोला करता है
और मर्म में रख देता है
कनी रेत की, एक अनी-सी
कसके जो पर रक्खे अक्षत,
मिले दर्द से जिस के कर से
सीपी का उर
जिस के वर से
रच ले मोती।

तुम हँसी हो

तुम हँसी हो
        जो न मेरे ओठ पर दीखे,
मुझे हर मोड़ पर मिलती रही है।
धूप
मुझ पर जो न छायी हो,
किन्तु जिस की ओर
मेरे रुद्ध जीवन की कुटी की खिड़कियाँ खुलती रही हैं।

तुम दया हो
जो मुझे विधि ने न दी हो,
किन्तु मुझ को दूसरों से बाँधती है
जो कि मेरी ही तरह इनसान हैं।
आँख जिन से न भी मेरी मिले,
जिन को किन्तु मेरी चेतना
                    पहचानती है।
धैर्य हो तुम
जो नहीं प्रतिबिम्ब मेरे कर्म के धुँधले मुकुर में पा सका,
किन्तु जो संघर्ष-रत मेरे प्रतिम का, मनुज का,
अनकहा पर एक धमनी में बहा
सन्देश मुझ तक ला सका,
व्यक्ति की इकली व्यथा के बीज को
जो लोक-मानस की सुविस्तृत भूमि में
                        पनपा सका।

हँसी ओ उच्छल,
दया ओ अनिमेष,
धैर्य ओ अच्युत,
आप्त, अशेष।

देना जीवन

जीवन,
देना
ऐसा सुख
जो सहा न जाय,
इतना दर्द
कि कहा न जाय।

ताप कृच्छ्रतम मेरा हो, अनुभूत तीव्रतम—
मैं अपना मत होऊँ।
मुझ में स्नेह भरे जिस से मैं
सब को दे आलोक अमलतर
ऐसा दिया सँजोऊँ।

देना जीवन,
सुख, दुख, तड़पन
जो भी देना, इतना भर-भर
एक अहं में वह न समाय—
एक जिन्दगी एक मरण का घेरा जिस को बाँध न पाय,
बच रहने की प्यास मिटा दे जो इस लिए अमर कर जाय।

किन्तु साथ ही
देना
साहस
हो अन्याय किसी के भी प्रति

पर मुझ से चुप रहा न जाय
आस्था
जिस को सुख का प्लावन
ज्वार व्यथा का बहा न पाय।
आकांक्षा का मधुर कुहासा,
संशय का तम
करे न ओझल
वह पैना विवेक जिस को
दुश्चिन्ता कोई करे न बोझल
सच का आग्रह
निष्ठा की हठ
अगजग के विरोध का धक्का जिस को ढहा न पाय।

देना
जीवन,
देना।

सागर-तट की सीपियाँ

सीपियाँ।

ये शुभ्र-नीलिम :
दर्द की आँखें फटी-सी
जो कभी अब नहीं मोती दे सकेंगी।

यह गन्ध-दूषित;
मुख-विवर जो किरकिराते रेत-कन से
अचकचा कर अधखुला ही रह गया है।

ये बन्द, बाहर खुरदुरी, छेदों-भरी :
हाय रे, अपनी घुटन का ले सहारा मुक्त होना चाहना
निस्सीम सागर से—
उसी के उच्छिष्ट का !

ये टूटी हुई रंगीन :
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
रेत से मिस चले-से भी स्निग्ध, रंगारंग
जैसे प्यार।

और यह जो—
चलो, यह अच्छा हुआ जो लहर उस को कोख में लेती गयी—
न जाने क्यों मुझे उस के कँटीले
रूप से संकोच होता था।

आखेटक

कई बार आकर्ण तान धनु
लक्ष्य साध कर
तीर छोड़ता हूं मैं :
कोई गिरता नहीं,
किन्तु सद्यः उपलब्धि मुझे होती है
आखेटक का रस सत्वर मुझ को मिल जाता है।

कभी-कभी पर
निरुद्देश्य, निर्लक्ष्य,
तीर से रहित धनुष की
प्रत्यंचा को
देता हूँ टंकार अनमना :
मेरे हाथ कुछ नहीं आता! दूर कहीं, पर,
हाय मर्म में कोई बिंध जाता है!

मुझे तीन दो शब्द

मुझे तीन दो शब्द
कि मैं कविता कह पाऊँ।
एक शब्द वह :
जो न कभी जिह्वा पर लाऊँ।
और दूसरा :
जिसे कह सकूं
किन्तु दर्द मेरे से
जो ओछा पड़ता हो।
और तीसरा : खरा धातु
पर जिस को पा कर पूछूं
क्या न बिना इस के भी काम चलेगा?
और मौन रह जाऊँ।
मुझे तीन दो शब्द
कि मैं कविता कह पाऊँ।

कवि के प्रति कवि

दर्प किया :
शक्ति नहीं मिली।
सुख लिया—छीन-छीन कर भर-भर सुख लिया :
अभिव्यक्ति नहीं मिली।
दु:ख दिया, दु:ख पिया, दु:ख जिया :
मुक्ति नहीं मिली।

कुछ लिखा
वह हाट-हाट बिका
फूले हम, सफल हुए
मोह पर झरा नहीं, टँगा-सा रहा टिका
हृदय की कली नहीं खिली।

बँधते हम रूप के दाम में रहे,
स्रजते पर सृष्टि से चिपटते,
आलोक-प्रभव पर लय की लहर से लिपटते
रमते हम काम में, राम में, नाम में रहे :
अनासक्ति नहीं मिली।

नमः कवि, जो भी तुम
नाम छोड़ ही नाम छोड़ गये ;
जो जब-जब हम शास्त्र रच मुदित हुए
संचित हमारा अहंकार
स्मित-भर से तोड़ गये;

मरु की ओर अदृश्य बढ़ी
अन्त:सलिला को
सहज, कुछ कहे बिन
फिर भीतर को मोड़ गये।

सर्जना के क्षण

एक क्षण-भर और
रहने दो मुझे अभिभूत :
फिर जहाँ मैंने संजो कर और भी सब रखी हैं
ज्योति : शिखाएँ
वहीं तुम भी चली जाना
शान्त तेजोरूप।

एक क्षण भर और :
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूंद स्वाती की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिस से फोड़ता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता-रूप को पकते।

मैं-मेरा, तू-तेरा

जो मेरा है
वह बार-बार मुखरित होता है
पर जो मैं हूँ
उसे नहीं वाणी दे पाता।

जो तेरा है
पल्लवित हुआ है रंग-रूप धर शतधा
पर जो तू है
नहीं पकड़ में आता।

जो मैं हूँ
वह एक पुंज है दुर्दम आकांक्षा का
पर उस के बल पर
जो मेरा है मैं बार-बार देता हूँ।

जो तू है
वह अनासक्ति पारमिता
पर उस के वातायन से
जो तेरा है तू मुझ से
इस से, उस से, सब से फिर-फिर भर-भर
स्मित, निर्विकल्प ले लेता है।